जयशंकर प्रसाद जी के नाटकों की कथावस्तु का वैशिष्ट्य

डा० कल्पना माहेश्वरी
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
ए०के०पी० कॉलेज, खुरजा
ईमेलः kalpanakrj2020@gmail.com

Reference to this paper should be made as follows:

डा० कल्पना माहेश्वरी

जयशंकर प्रसाद जी के नाटकों की कथावस्तु का वैशिष्ट्य

Artistic Narration 2021,
Vol. XII, No. 2,
Article No. 37 pp. 243-253

https://anubooks.com/artistic-narration-no-xii-no-2-july-dec.-2021/

सारांश

हिन्दी नाटक अपनी शैशवावस्था में अन्य नाट्य–परम्पराओं संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी पर पूर्णतः आश्रित रहा है। भारतेन्दु युग से पूर्व उसके इस पराश्रित अस्तित्व में अपनी कोई मौलिक पहचान नहीं थी। सर्वप्रथम भारतेन्दु युगीन नाटकों में ही किंचित कलात्मक नाट्य विधान और समन्वित नाट्यादर्श की दृष्टि से नाट्य–रचना की नवीन परम्परा का प्रथम संकेत दिखायी देता है। भारतेन्दु जी ने प्राचीन रूग्ण नाट्य–रूढ़ियों को तोड़कर भारतीय और पाश्चात्य नाट्य–पद्धतियों का समन्वय कर हिन्दी नाटक की एक नवीन दिशा का निर्धारण किया तथापि नाटक के प्रयोजनीय और अप्रयोजनीय तत्वों के सम्बन्ध में व्यक्त उनकी अवधारणाओं की अपनी एक निश्चित सीमा ही रही और व्यावहारिक नाट्य–रचना में वे लोक–नाट्य और पारसी रंगमंच के नाटकों को सहज ही अचेतन से विस्मृत न कर सके। भारतेन्दु जी ने संस्कृत नाट्य–परम्परा के साथ पाश्चात्य नाट्य–पद्धति का यथेष्ट समन्वय तो किया परन्तु इसमें सतही दृष्टि के कारण सीमित सफलता ही प्राप्त हुयी।

पाश्चात्य नाटकों की भांति संघर्ष, द्वन्द, मनोवैज्ञानिक चित्रण और नाटकीय स्थितियों का कार्यावथाओं के अनुरूप संयोजन करने की अपेक्षा उन्होंने भारतीय नाट्य–परम्परा के अनुसार रस को ही अपने नाटकों का आधार माना है, फलतः नाटक के बहिरंग में ही परिवर्तन हुआ अंतरंग में समसामयिक कथावस्तु के चयन और युगीन चेतना के समावेश के अतिरिक्त कोई महतवपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। अन्ततः भारतेन्दु और उनके सहयोगी नाटककार पाश्चात्य नाटक की आत्मा तक सिद्धान्त और व्यवहार में नहीं पहुंच पाये और न ही वे अपने नाटकों को संस्कृत की गरिमा देने में सफल हो पाये। फिर भी यह परिवर्तन कम क्रांतिकारी नहीं था। समन्वय की भावना से प्रेरित यह नवीन शिल्प–दृष्टि हिन्दी नाटक के लिये एक ऐसी नींव डाल सकती थी जिस पर हिन्दी नाटक का एक सुदृढ़ मौलिक और नवीन भवन निर्माण संभव था।

वस्तुतः अतीत–गौरव के माध्यम से वर्तमान में चेतना जागरण का समारम्भ इसी युग में हो जाता है। इस जागरण में कुछ नाटककारों ने उन्मुक्त भाव से सहयोग दिया और कुछ ने प्रच्छन्न रूप से । कुछ एक अच्छे नाटक छोड़कर अधिकांशतः नाटकों में मात्र नाट्य–धर्म का पालन किया गया है, नाटक की आत्मा का उम्मेव कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इनमें विषय वस्तु की जागरूकता और नाट्य–शिल्प की प्रयोगशीलता की भावना तो अवश्य दिखायी देती है किन्तु अनुभूति की अंतरंग आत्मीयता और कला की सौन्दर्य चेतना का अभाव है। गहन जीवन –दृष्टि से विहीन इन नाटकों को शुद्ध साहित्यिक कोटि में नहीं रखा जा सकता।

''युग सापेक्ष्य तथा अपनी प्रेरणा, हेतुओं, रसानुभूति और कलात्मक चेतना के महत्वपूर्ण होने पर भी प्रायः निश्प्राण से प्रतीत होते भारतेन्दु और द्वेदी युगीन नाट्य–साहित्य में लोक तत्व की प्रधानता ही अधिक दृष्टिगोचर होती है, यह नाटक मात्र लोक–रूचि की ही तृप्ति करते रहे फलतः ''इनमें कोई दूर तक जाने वाला वैशिष्ट्य नहीं। अतः इनका प्रभाव अपने तक ही सीमित रहा।''[1] उलझा हुआ जटिल कथानक, निश्प्राण चरित्र–चित्रण, शिथिलता पूर्ण संघर्ष और जीवन के उद्दीप्त क्षणों को गहनता पूर्वक अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थ इन नाटकों की साहित्यिक उपलब्धि सीमित ही रह गयी। प्रसाद जी ने नाट्य–साहित्य की सीमित उपलब्धि को असीम विस्तार दिया।

उन्होंने हिन्दी नाटक को उसके स्थूल कथ्य से उबारने में एक नवीन दिशा का निर्धारण किया। इस दिशा–निर्धारण में यद्यपि वह भारतेन्दु और द्विवेदी युग की प्रवृत्तियों से भी ग्रस्त रहे। उनके नाटकों में जो ऐतिहासिक कथ्य और उसमें निहित समसामयिक चेतना का प्रच्छन्न स्रोत मिलता है वह पूर्ववर्ती परम्परा का ही विकास कहा जायेगा, किन्तु उसके बीच उन्होंने एक स्वतंत्र मार्ग को प्रशस्त किया है, यही उनकी महत्ता का अधार है। यह नवीनता उनकी अपनी है और छायावाद की देन है छायावाद की नवीन साहित्यिक चेतना से अनुप्राणित होकर ही उन्होंने नाटक के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात किया जो निःसन्देह काव्य, कल्पना, रोमान तथा अनुभूतियों के तंतुओं से परिपूर्ण था। पूर्ववर्ती नाटककारों के गुण दोषों से मुक्त होने पर

भी अनुभूति, अनुभव, बौद्धिक–चिन्तनतथा पुरातन भारत की समग्र आत्मा के सूक्ष्म दर्शन क्षमता के कारण ही प्रसाद के नाटक सर्वथा भिन्न दिखायी देते है। वस्तुतः अपनी विषयवस्तु से आविष्ट हो जाने के कारण अनुभूति जहां उनकी रचना प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग बन जाती है वहीं अनुभव के स्तर तक पहुंचकर, अध्ययन और चिन्तन से पुष्ट होकर हदय और बुद्धि तत्व का अपूर्व समन्वय भी उपस्थित करती है। इसी समन्वयात्मक अनुभूति की नाट्य–कृतियों के संस्कार में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

प्रसाद और उनके नाटकों के मध्य एक मिलन बिन्दु है। उनके नाटकों की सर्जनात्मक प्रक्रिया में उनके अचेतन मन की छाप तथा आत्म चरितात्मक तत्वों का अपना विशेष महत्व है। ''शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्करा उठता है या फिर गहन आकाश जो झंझा और विदुत को हदय में समाकर चांदनी की हंसी हंस रहा है– ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।''[2] इस गहन, विराट और अन्तर्विरोधों से पूरिपूर्ण व्यक्तित्व को लिए हुये प्रसाद ने जीवन को बहुत समीप से देखा, भोगा और फिर उसे अपनी दृष्टि से परखने और परिभाषित करने का भी उपक्रम किया। प्रसाद की चेतना इतनी प्रबुद्ध थी कि वह जीवन की गहराइयों में डूबे और भावना का रस ग्रहण कर पनपे। वह भोक्त होने के साथ दृष्टा भी थे इसीलिए दृश्य के प्रति उनकी धारणा, प्रतिक्रिया तथा दृष्टि भी स्पष्ट और अपने में नवीन थी। उनके भोक्ता तथा दृष्टा दोनों रूपों में समन्चय के पीछे उनके हदय की रागात्मकता तथा मानस की उच्च निःसंग बौद्धिकता का मुख्य हाथ था। इसके अतिरिक्त वह उन्नीसवीं और बीसवीं शती की वयः सन्धि में पनपे थे ज्बकि बुद्धिजीवियों का एक उठता हुआ वर्ग दो विरोधी दृष्टियों के बीच एक नवीन और आधुनिक जीवन पद्धति की खोज में व्याकुल था। एक ओर पुनरूत्थान की सक्रिय परिणति के कारण भारत अतीत में वर्तमान को देख रहा था, दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा–दीक्षा के कारण भौतिकवादी जीवन–मूल्य उभरते जा रहे थे । पहली जीवन दृष्टि सामनती और आध्यात्मिक थी और दूसरी यांत्रिक भौतिकता की पूरक। दोनों पूणतः भिन्न थी। प्रसाद जी ने दोनों का समन्वय कर नवीन जीवन–मूल्यों को निर्धारित किया। इस समन्वयात्मक मूल्य निर्धारण में प्रसाद जी की दृष्टि भारतीय जीवन पद्धति के उत्तमांशों पर ही अधिक केन्द्रित रही है और उसी के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों में जीवन की आधारणा की है।

प्रसाद का युग नवीन परिवर्तन का युग था, महायुद्ध के पश्चात स्थितियों परिस्थितियों में जो तीव्रता से परिवर्तन हुआ था उससे देश की धमनियों में नये रक्त का संचार ही नहीं हुआ, स्वतंत्रता के लिये विद्रोह के नये स्वर भी उभरे। विदेशी सत्ता के युगीन शोषण और साथ ही देश की अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्राण शक्ति का प्रस्फुटन ही विद्रोह के इन स्वरों के जगने का कारण बना, जिसने पुनरूत्थान की भावना और मानवतावादी दृष्टिकोण को जन्म देकर देश में चेतना की एक नवीन अनुगूंज फैला दी। व्यावहारिक और चैचाारिक संघर्ष इस युग के मूल में रहा और देश उठकर उस भाव–भूमि पर खड़ा हुआ, जहां प्राचीन नवीन का और नवीन प्राचीन का साक्षात्कार करनें में सक्षम था। इन नये साक्षात्कार के क्षणों में ही युग को

एक ऐसी नवीन दृष्टि मिली जिसने कर्म के क्षेत्र में आचार, और विचार के क्षेत्र में आदर्श की अवतारणा की। प्रसाद युगीन साहित्य युग की इस सम्पूर्ण उपलब्धि का संवाहक है, अपने युग की आशा आकांक्षाओं, स्वप्निल कल्पनाओं, अभावमयी अतृप्तियों, संघर्ष की मनोस्थितियों तथा दर्शन–चिन्तन से सहज स्वाभाविक उद्‌भूत हुआ है। एक विलक्षण ऊर्जा से समन्वित इस साहित्य में राष्ट्र का तारुण्य और उसका रागात्मक स्वर ही मुखर हुआ है।

प्रसाद के नाटकों में उनकी अनुभूति आतंरिक प्रेरणा तथा अवचेतन ही प्रायः भाषा – शैली, कथ्य शिलप तथा पात्रों को रूपायित करते हुये मिलते है परन्तु विशिष्टता यह है कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों में आत्मचरितात्मक तत्वों का निर्वेयक्तिक रूपान्तरण किया है। प्रसंगों, पात्रों, स्थितियों भावों तथा विचारों कथ्य, संस्कृति, दर्शन तथा बौद्धिक चिन्तन को सर्वथा अपनी अभिरूचि, अनुभूति तथा अनुभव के आधार पर ग्रहण करने पर भी अपने दायित्व का प्रक्षेय उन्होंने निःसंग भाव तथा व्यापक मानवीय धरातल पर किया है। उनका व्यष्टि समृष्टिगत रूप पाकर सार्थकता अर्जित करता है। सत्यतः रचनाकार के व्यक्तित्व के साथ ही उसका अपना समाज युग युगीन स्थितियां परिस्थितियां तथा इनके संदर्भ में उसका अपना आत्मबोध भी सर्जना की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योग प्रदान करता है। प्रसाद के नाटकों की सर्जना में वैयक्तिक अनुभूति के साथ अपने युग तथा समाज के संदर्भो से जुड़ेग सभी तत्व सक्रिय रहे है। उनके समस्त नाटकों की चेतना मूलतः युगीन है, युगीन जीवन की विषमता ने ही उन्हों इतिहास की ओर उन्तुख किया और इतिहास के गहन अध्ययन ने युगीन जीवन के प्रति जागरूक बनाया। भारतीय इतिहास के स्वर्ण युगीन पृष्ठों को नाटकों का उपजीव्य बनाकर उनके स्वच्छन्दवादी दृष्टिकोण्ध ने उन्हें युगानुरूप एक नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है। नाटकों के कथानक में प्रसाद का अपना युग बोलता है। ''स्कन्दगुप्त'' एवं चन्द्रगुप्त के ऐतिहासिक कथानक में उनहोंने अतीत के संदर्भ में अपने युग के वर्तमान को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है। ''चन्द्रगुप्त'' में प्राचीन कालीन उस भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम का चित्र खींचा गया है जब भारत पर विदेशी आक्रमण हो रहे थे और भारतीय राजा पारस्परिक द्‌वेष, लोभ, अहंकार और विलास के मायाजाल में फंसे विदेशियों के सहायक बन रहे थे जैसे आम्भीक अथवा विलासपूर्ण जीवन बिताते हुये अपनी प्रजाका क्रूर दमन कर रहे थे जैसे किमगध–सम्राट नंद। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका आदि जैसे देशभक्तों ने देश के उस संकट और आन्तरिक दुर्दशा से चिन्तिन हो, योजनाबद्ध नीति से पहले विदेशियों से देश की रक्षा की ओर फिर नंद जैसे क्रूर, पतित देशी शासकों का उन्मूलन कर सुशासन की स्थापना की। इस प्रकार इन देश भक्तों को देशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं के विरूद्ध संघर्ष करना पड़ा था। चन्द्रगुप्त के रचनाकाल के समय भी देश ऐसी ही स्थितियों से गुजर रहा था, उस समय भी राष्ट्र–भक्तों को ऐसी ही दो प्रकार की शक्तियों के विरूद्ध संघर्ष करना पड़ रहा था। विदेशी अंग्रेजी शासक क्रूरता और निर्मम शोषण पर आधारित शासन द्‌वारा भारतीय जनता पर अत्याचार कर रहे थे दूसरी ओर

देशी रियासतों के राजा–नवाब भोग विलास में डूबे हुये अपनी प्रजा को पशुओं से भी तुच्छ समझकर उसे क्रूर दमन की चक्की में पीसते रहते थे। अधिकांशतः ये राजा और नवाब अंग्रेजों के आश्रित थे और अपने वैभवपूर्ण जीवन बिताने के स्वार्थवश उनके कट्टर समर्थक थे। एक तीसरी विषम स्थिति यह भी थी कि भारत में अंग्रेजी पढ़े लिखे अफ्सर, निम्नवर्गीय सरकारी कर्मचारी तथा मध्य वर्ग के अंग्रेजी सभ्यता संस्कृति से गहरे रूप से प्रभावित ऐसे लोगभी थे जो अंग्रेजों को ही अपना स्वामी मानकर स्वतन्त्रता आन्दोलनों का विरोध करते रहते थे देश के क्रांतिकारियों को इन तीनों ही वर्गो के विरूद्ध संघर्ष करना पड़ा था। इस प्रकार प्रसाद जी ने गुप्त युग में हुये उस संघर्ष के माध्यम से वर्तमान युग में हो रहे स्वतन्त्रता संघर्ष को ही आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की। दोनों युग की परिस्थितियों में दिखायी देने वाला यह साम्य स्पष्ट कर देता है कि ''चन्द्रगुप्त'' नाटक की रचना करने में प्रसाद जी का मूल उद्देश्य उस राष्ट्रीय भावना का प्रचार और प्रसार करना रहा था जो उस युग में अत्यन्त जीव्र गति के साथ सम्पूर्ण भारतीय जनमानस को आंदोलित कर रही थी। प्रसाद जी ने पहली बार इतिहास के माध्यम से यह सिद्ध कर दिखाया कि यूरोप के निवासी अंग्रेज न तो अजेय है और न सभ्यता–संस्कृति अथ्वा अन्य किसी भी दृष्टि से भारतीयों से श्रेष्ठ ही है। विश्व–विजयी कहलाने वाला सिकन्दर महान भारत से पराजित होकर भागा था, ''चन्द्रगुप्त'' में व्यक्त कल्पना मिश्रित यह ऐतिहासिक तथ्य ही भारतीय जन–मानस में एक नवीन स्फूर्ति, नया आत्मविश्वास जगाने के लिये प्र्याप्त था और इसी ने तत्कालीन स्वतन्त्रता–आन्दोलनों को प्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा भी प्रदान की थी। यद्यपि प्रसाद जी की इस नयी ऐतिहासिक स्थापना का कुछ भारतीय इतिहासकारों ने विरोध ा और खण्डन भी किया परन्तुजन–मानस साहित्यकारों से प्रभावित होता है इतिहासकारों से नहीं।

''प्रसाद का युग राष्ट्रीय जागरण का युग था और हर राष्ट्रीय जागरण के पीछे इतिहास की प्रेरणा रही है। एक जागरणोन्मुख राष्ट्र प्रायः अपनी ईहा आशा–आकांक्षा को इतिहास के माध यम से प्रकट करता आया है। राष्ट्र के जीवन में ऐसे अवसर आते है जब अतीत के प्रति तात्कालिक रूचि अनिवार्य होती है।''[3] प्रसाद जी ने इसीलिए ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से देश की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को चित्रित करने का प्रयास किया। तत्कालीन जनता विदेशी राजनीतिक प्रभुत्व से आतंकित थी, उसे शक्ति और सुरक्षा का अवलम्ब चाहिए था। पर्णदत्त स्कन्दगुप्त को जनता मों आत्मबल और विश्वास जगाने के लिये अधिकार का उपयोग करने की शिक्षा देते हुए कहता है। ''किसलिये त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिये, सतीत्व के सम्मान के लिये देवता और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिये आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिये आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा।''[4]

प्रसाद की राष्ट्रीयता में गौरवशाली प्रगति और विजय का उल्लास छिपा है। स्कन्दगुप्त नाटक में बन्धुवर्मा का यह कथन देश की भावी स्थितिका द्योजन कराता है जिसमें उनकी प्रगतिकामिता के बीज छिपे है। ''तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हुणों को बता दिया कि रणविद्या केवल

नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आजविश्व विख्यात और रूम साम्राज्य पदाक्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कंठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर है।''[5] इसी नाटक में कमला के माध्यम से प्रसाद जी सारे देश को राष्ट्रीय जागरण का संदेश देते हुये कहते है ''उठो स्कन्द आसुरी वृत्तियों का नाश करो। सोने वालों को जगाओ, रोने वालों को हंसाओ, आर्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य–पताका के नीचे समग्र विश्व होगा।''[6] अजातशत्रु में भी प्रसाद जी राष्ट्र कल्याण और उसकी प्रगति के लिये प्रयत्नशील है, जब सभी सदस्य अजातशत्रु से कहते है। ''राष्ट्र के लिये प्राणतत्व विसर्जन किया जा सकता है और हम सब ऐसी प्रतिज्ञा करते है।''[7] चन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त कहता है ''यह जागरण का अवसर है जागरण का अर्थ है कर्म क्षेत्र में अवतीर्ण होना और कर्म–क्षेत्र क्या? जीवन–संग्राम। इस जीवन के संग्राम में ही भारतीय स्वतन्त्रता की झलक छिपी हुयी है।''[8] प्रसाद जी के प्रसिद्ध गीत हिमाद्रि तुंग श्रंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती को सुनकर उस समय भारत के हजारों युवक–युवतियां स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े थे। अतः हम कह सकते है कि राजनीति प्रगति का मिला प्रसाद के नाटकों में पूर्ण रूप से विद्यमान है क्योंकि उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से राष्ट्र को संगठित, सुरक्षित सशक्त और महान बनाने का सफल प्रयास कियास है। ''प्रसाद ने अतीत की आशा आकांक्षाओं विरोधी प्रतिरोधी से अनुप्राणित अखंड प्रयत्न परम्परा को अपने नाटकों की कथावस्तु उभारने में संश्लिष्ट शक्ति का अनुभव किया है। नियति को सम्राटों से भी अधिक बलवती मानने वाले नाटककार प्रसाद ने इतिहास की इस गतिमान शक्ति का साक्षात्कार ही नहीं किया वरन् हीगेल की भांति उसे ही युग–चेतना और स्वातंत्रय–भावना की अभिव्यकित का केन्द्र भी माना है।''[9]

''वस्तुतः प्रसाद की महत्ता इस बात में ही है कि उनके नाटकों में कंकाल इतिहास का है किन्तु प्राण स्वयं उसमें उन्होंने भरे है। उन्होंने इतिहास से इतिवृत्त ग्रहण करते हुये तथ्यों को अपनी दृष्टि से ही ग्रहण किया है।''[10] इतिहास के उपलब्ध इतिवृत्त को अपनी प्रगतिकामी दृष्टि से प्रसाद जी ने सार्थकता और सोद्देश्यता प्रदान की है और इसीलिए अपनी कल्पना का सहारा लेकर उन्होंने कथानकों का आविष्कार और परिष्कार भी किया है। अजात शत्रु में मागन्धी, 'चन्द्रगुप्त' में सुवासिनी, कल्याणी, मालविका, कार्नेलिया और चाणक्य, ध्रुवस्वामिनी में कोमा तथा 'स्कन्दगुप्त' में मातृगुप्त, विजया, देवसेना आदि उनकी सर्जननात्मक प्रगतिकामी कल्पना के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण है।

उनकी गतिशील कल्पना भारत–राष्ट्र की अनेक समस्याओं के समाधान में रत प्रतीत होती है। अंग्रेज शासक – 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का सहारा लेकर भारत पर शासन करने में लगे थे। हिन्दू और मुस्लिम दोनों जातियों में वैमनस्य की भावना पैदा हो चुकी थी, प्रसाद जी अपने नाटकों में इसीलिए वैमनस्य को भूलकर एकता की भावना का उपदेश देते है। उनका 'कामना' एक 'प्रतीकात्मक नाटक' माना जाता है। ''जिस समय इस नाटक की रचना

हो रही थी उस समय भारत में महात्मागांधी के उपदेशों के द्वारा नव जागरण की भावना फैलती जा रही थी। चरखा त्याग, तपस्या संयम एवं परिश्रम का महत्व प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता था। उसके ह्दय मे यही कामना थी कि स्वतंत्र होकर रहें और विदेशी बंधन से सर्वथा मुक्त होकर प्रकृत जीवन–यापन करें।''[11] कामना नाटक में भी यही भावना व्यक्त की गयी है जब एक प्रतीकात्मक पात्र विलास अपने कथन द्वारा एकता और राष्ट्रीय भावना की ओर इंगित करता है ''अब से तुम लोग एक राष्ट्र में परिणत हो रहे हो, राष्ट्र के शरीर की आत्मा राज्य सत्ता है उसकी सदैव आज्ञा–पालन करना, सम्मान करना।''[12] ''प्रसाद जी'' चन्द्रगुप्त नाटक में भी इसी राष्ट्रीय एकता की भावना को चाण्क्य के कथन से इंगित करते है कि ''आत्म सम्मान की रक्षा के पहले उसे पहचानना होगा। व्यक्तिमान के लिये तुम प्रस्तुत हो क्योंकि तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हाने मान का अवसान है न परन्तु आत्म सम्मान इतने ही से संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।''[13] इस कथन में प्रसाद जी की राष्ट्रीय विकास–कामना देखी जा सकती है। जिसमें वह भारत की सभी रियासतों को मिलाकर एक अखण्ड भारत की स्थापना की कल्पना संजोते है। स्वतंत्रता के बाद सरदार पटेल ने 562 रियासतों को मिलाकर प्रसाद जी की इसी प्रगति कामना को साकार किया, वे महान स्वप्न दृष्टा और प्रगतिकामी महापुरूष थे।

देश में लम्बे पराधीनता के का में नारियों की दयनीय दशा पर भी प्रसाद की प्रगतिकामी दृष्टि गयी और अपने नाटकों के माध्यम से उन्होंने नारी स्वातन्त्रय आन्दोलन को भी प्रोत्साहन दिया। ''राज्यश्री'' नाटक उनकी नारी प्रगति कामिता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं। नारी होते हुये भी राज्यश्री को खड्ग पकड़ना आता है जब देवगुप्त पर मनत्री का खड्ग लेकर वह वार करती है। प्रसाद के नाटकों में नारी घर की सीमा लांघकर तलवार पकड़ने का काम आरंभ कर देती है और युगों के शोषण के पश्चात् सार्वजनिक क्षेत्र में आ पहुंचती है। ''स्कन्दगुप्त'' की देवसेना जैसी तपस्विनी बालायें जिस देश में हो, जो देश की सेवा के लिये भीख तक मांग सकती हों, अपनी कामननाओं को कुचलकर आर्यावर्त के उद्धार के लिये अपने को भस्म कर सकती हो, वह देश सदा स्वाधीन रहेगा। ''चन्द्रगुप्त'' नाटक की अलका भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रेरणा बनी जब गांधी जी के नेतृत्व में अनेक स्त्रियां राष्ट्रीय गीत गाती हुयी पुरूष के कदम से कदम मिलाकर अपनी आहुति देने के लिये आ जुटी। ''जन्मेजय का नागयज्ञ'' में सरमा नारी स्वातन्त्रय का विगुल बजाती है वह अपने पति वासुकिसे स्पष्ट शब्दों में कहती है– ''आपको और सब अधि ाकार है पर मेरी सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने का न हीं।''[14] इसी तरह ''कामना'' में प्रमदा स्त्रियों की स्वतन्त्रता का द्वार खोलती है और ''अजातशत्रु'' में भी नारी–स्वातन्त्रय का घोष सुनायी पड़ता है। डा0 दशरथ ओझा के अनुसार ''अजातशत्रु'' में क्रांति का जो विकट घोष सुनायी पड़ता है वह क्रांति राजनीतिक क्षेत्र में राजाओं के विरूद्ध राजकुमारों की है। सामाजिक क्षेत्र में अीिजात के विरूद्ध निम्न वर्ग की है। धार्मिक क्षेत्र में रूढ़िवाद के विरूद्ध सुधारवाद की

है, कौटुम्बिक क्षेत्र में पुरूषों के विरूद्ध स्त्रियों की है।''[15] रानी शक्तिमती को महाराजा प्रसेनजित दासी पुत्री कहकर अपमानित करते है। इसीलिए वह समस्त पुरूष जाति से प्रतिकार चाहती है। इस नाटक में प्रसाद जी नारी को पति से अपमानित होने पर भी प्रतिशोध की स्वतन्त्रता देते है जो उनकी प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है। ''ध्रुव–स्वामिनी'' में भी नारी पुरूष से पूछती है कि उसने नारी को पशु समान क्यों बना रखा है और इस नाटक में नारी विवाह की खोखली धर्म–रूढ़ संस्था से विद्रोह करती है। विवाह की इस संस्था के प्रति विद्रोह प्रसाद की लेखनी ''कामना'' नाटक से ही आरम्भ कर देती है। ''जन्मेजय का नागयज्ञ'' ''ध्रुवस्वामिनी'' और अजातशत्रु नाटकों में यह विद्रोह अपनी पूर्ण प्रखरता से व्यक्त हुआ है। प्रसाद जी के नाटकों की कथावस्तु सामाजिक भेद–भाव के प्रति भी विद्रोह व्यक्त करते देखी जा सकती है। ''अजात शत्रु'' तो सामाजिक भेद–भाव की नींव पर ही खड़ा हुआ है जिसमें राजपुत्र को सिंहासन पर बैठाने की प्रथा का खंडन उस समय के सर्वश्रेष्ठ महापुरूष से कराया गया है, गौतमबुद्ध प्रसेनजित से कहते है–''यह दम्भ तुम्हारा प्राचीन संस्कार है, क्यों राजन! क्या दास–दासी मनुष्य नहीं है? क्या कई पीढ़ी ऊपर तक तुम प्रमाण दे सकते हो कि सभी राजकुमारियों की संतान ही इस सिंहासन पर बैठी है या प्रतिज्ञा करोगे, कि कई पीढ़ी आने वाली तक दासी–पुत्र इस पर न बैठने पावेंगे? यह छोटे बड़े का भेद क्या अभी इस संकीर्ण हदय में इस तरह घुसा है कि निकल नहीं सकता। क्या जीवन की वर्तमान स्थिति देखकर प्राचीन अंधविश्वासों को, जो न जाने किस कारण होते आये है, तुम बदलने को प्रस्तुत नहीं हो?''[16] गौतम बुद्ध के इस कथन में वर्तमान समाज की भेद–भाव पूर्ण दशा का भावुक चित्रण है। जिसको समाप्त करने की छटपटाहट प्रसाद जी की प्रगतिशील दृष्टि का परिचय देती है।

कथावस्तु के चयन में प्रसाद जी का दृष्टिकोण भावात्मक भी रहा है और वैचारिक भी, इसलिए वे एक ओर इतिहास के अप्रकाशित अंश को प्रकाशित करते है तो दूसरी ओर युगीन समस्याओं को नयी अर्थवत्ता प्रदान करने में भी नहीं चूकते। उनके नाटकों में नवीन सामाजिक चेतना इसीलिए सर्वत्र अभिव्यक्त है। जहां वे प्राचीन संस्कृति और इतिहास के पुर्न प्रस्तुतीकरण में संलग्न है, वहीं नवीन युग की प्रगतिशील दृष्टि उन्हें आधुनिकता की ओर भी अग्रसर करती है। प्रसाद जी के नाटक जन्मेजय का नागयज्ञ में प्राचीन वर्ण–व्यवस्था का स्वस्थ आधुनिक एवं प्रगतिशील रूप प्रस्तुत किया गया है। जहां शूद्र से ब्राहमण तक की समता का वर्णन है। सरमा मनसा से कहती है ''शूद्र गोप से लेकर ब्राहमण तक समता और प्राणिमात्र के प्रति समदर्शी होने की आमेध वाणी उनके श्रीकृष्ण के मुख से कई बार सुनी थी।''[17] इस नाटक में प्रसाद जी नागजाति और आर्य जाति के माध्यम से हिन्दू और मुस्लिम जातियों की आपसी बैर–भावना को समाप्त करने का प्रयत्न करते है। ''मनसा मणिमाला से कहती है कि तेरे पिता को आग में जलाने के लिये वे ढूढ़ते फिरते है और नस नागजाति को धूल में मिला देना चाहते है इस पर आस्तीक कहता है''[19] क्यों आप अपने को मानव जाति से भिन्न मानती है? क्या यह आप लोगों

के कल्पित गौरव का दम्भ नहीं है। इन शब्दों में प्रसाद जी का सच्चा मानवतावाद परिलक्षित होता है। जिस पर गांधी जी का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रसाद जी अपने युग के धार्मिक अंधविश्वासों से भी पूर्णतः परिचित थे। धर्म के नाम पर दुराचार और सामाजिक व्यभिचार करने वालों को वह भली भांति पहचानते थे। ''विशाख'' नाटक में भिक्षु एक भोली भाली तरला नाम की स्त्री को अपनी विद्या का चमत्कार दिखाकर बहकाने का प्रयास करता है तरला लाभ में आकर अपने सारे गहने उसके सामने रख देती है और इस प्रकार अपने गहनों से हाथ धो बैठती है। ''स्कन्दगुप्त'' में प्रपंच बुद्धि सद्धर्म के नाम पर बलि देना चाहता है, इतना ही नहीं सद्धर्म और ब्राहमण धर्म के बीच का विवाद अंक पांच में प्रस्तुत करके प्रसाद जी ने साम्प्रदायिक समस्या पर भी प्रगतिशील दृष्टि से विचार किया है। जहां बौद्ध धर्म इस बात पर अड़ा है कि वह पशुबलि न होने देगा वहीं ब्राहमण अंध पशुबलि करने के लिये मरने कटने को तैयार है। इस धर्मोन्माद को प्रख्यातकीर्ति के माध्यम से सुलझाया गया है। ध र्म के सम्बन्ध में प्रख्यातकीर्जि के ये शब्द प्रसाद जी के प्रगतिशील दृष्टि का बोध कराते है– ''सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार निवृत हो रहे है और होंगे। हम लोगों को उन आगन्तुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुंह न फेरना चाहिये। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखायें है। आओ, हम दोनों विचार के फूलों से दुख दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।''[20]

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात सम्पूर्ण विश्व में एक ओर मार्क्सवाद के प्रभाव में विस्तार हुआ तो दूसरी ओर भारत में अकाल पड़ने के कारण गरीबी की समस्या ने जन्म लिया। साहित्यकारों पर भी इस दशा का प्रभाव पड़ा। प्रसाद जी ने अपने नाटक विशाख में गरीबी का चित्रण इस सीमा तक किया है कि मनुष्य को जब समय पर भोजन नहीं मिला तो उसने सेम की फलियों से पेट भर लिया। इरावती विशाख से कहती है कि ''दरिद्रता ने विवश किया है इसी से आज सेम की फलियां पेट भरने के लिये अपने बूढ़े बाप की रक्षा के लिये तोड़ ली है।''[21] इतना ही नहीं कभी कभी वह खेतों का पड़ा गिरा अन्न डरकर और छिपकर बटोर लोती है। इस समस्या को कामना नाटक में भी दिखाया गया है। जब संतोष करूणा से कहता है– ''दरिद्रता कैसी विकट समस्या। देवी दरिद्रता सब पापों की जननी है औश्र लोग उसकी सबसे बड़ी संतान है।''[22] स्कन्दगुप्त नाटक में प्रसाद जी ने युद्धोपरान्त की गरीबी का चित्रण बड़ी मार्मिकता से किया है। पर्णदत्त कहता है ''सूखी रोटियां बचाकर रखनी पड़ती है। जिन्हें कुत्तों को देते हुये संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संख्य? अक्षय निधि के समन उन पर प्रहरा देता हूॅ।''[23] पर्णदत्त और देवसेना सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों औश्र अंग भंग सैनिकों के लिये भीख मांगते फिरते है और नागरिक गण देव सेना के लिये कुत्सित संकेत करने से भी नहीं चूंकते। पर्णदत्त का यह कथन दीन–दुखियों के प्रति प्रसाद जी के हृदय की सहानुभूति ही नहीं व्यक्त करता अपितु क्रांति और विद्रोह के लिये उन्हें तीखा निमन्त्रण देता है– ''अन्न पर स्वतत्व है भूखों का

और धन पर स्वत्व है देशवाशियों का। प्रकृति ने इन्हें हमारे लिये हम भूखों के लिये रख छोड़ा हैं वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता। विलास के लिये उनके पास पुष्कल धन है और दरिद्रों के लिये नहीं। अन्याय का समर्थन करते हुये तुम्हें भूल न जाना चाहिए।''[24] प्रसाद जी के नाटकों में शास्त्रीय कथा–संघटन को दृढ़ना उचित नहीं होगा। उनकी नाट्य–वस्तु की रचना न तो पूर्णतः भारतीय पद्धति के अनुरूप है और न पाश्चात्य रचनातन्त्र के अनुरूप। कार्यावस्थायें संधया और अर्थ प्रकृतियां दूढ़ने वाले जन यह भूल जाते है कि उनकी नाट्य–रचना मानव की तीव्र इच्छा शक्ति, उसकी संघर्षशीलता और उसकी प्रगतिकामिता दर्शाने के लिये की गयी है। अतः प्रगतिशील दृष्टि से ही उनकी नाट्य–वस्तु का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। प्रसाद जी की नाट्य–कृतियों का काल ऐतिहासिक–पौराणिक युग से वर्तमान युग तक फैला है, अन्वितियों का बंधन उनके लिये अनिवार्य नहीं हो सकता। उनके नाटकों का प्रमुख उद्देश्य प्रभाव की सृष्टि करना है।

नाटकों के अंत में भी प्रसाद जी ने नियोजन का श्रेष्ठ कौशल दिखाया है, उनके नाटकों का विलक्षण अंत फलागम की दृष्टि से नहीं वरन् प्रगतिकामी दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ''वह नाटक के अंत को एक ऐसे अतीन्द्रिय अनुभव तक पहुंचाते है जहां शब्द मौन में बदल जाते है और कल्पना स्थिति विशेष में रमाने लगती है।''[25] ''डा0 रामविलास शर्मा उनके नाटकों को समाजिक निष्क्रियता से जुड़ा हुआ मानते है''[26] तो ''आचार्य नंददुलारे बाजपेयी दुखान्तता और सुखान्तता के समन्वय को उनके नाटकों का मूल लक्ष्य निर्धारित करते है।''[27] किन्तु उनके नाटकों का मूलाधार शैव दर्शन है और लक्ष्य–निर्धारण में प्रसाद जी से कहीं त्रुटि नहीं हुयी है। उनके नाटक जीवन की गतिशीलता और उच्चाशयता से जुड़े है इसलिये उन्हें मात्र दुख से सम्बद्ध रचना नहीं कहा जा सकता, और न सामाजिक निष्क्रियता का आरोप का ही उन पर लगाया जा सकता है बल्कि कहा जा सकता है कि उनके नाटक खोखले और स्थूल प्रगतिवादी आवरण में ढंके नहीं है, अपितु जीवन की सच्ची और प्रगतिकामी आंतरिक अनुभूतियां अपनी सम्पूर्ण करूणा के साथ उनमें प्रकट हुयी है। अतः प्रसाद जी के सभी नाटकों की नाट्य वस्तु लक्ष्य और उद्देश्य की दृष्टि से प्रगतिशील अवधारणा को आधार बनाकर चुनी गयी है उनकी प्रगतिशील अवधारणा प्रगतिवाद की तरह स्थूल, बाह्य और कृत्रिम नहीं बल्कि प्रसंगों और दृश्यों को पूरी अन्विति से प्रस्तुत करने वाली आन्तरिक अनुभूतियुक्त प्रगतिकामिता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डा. नागेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ – 4
2. डा. नागेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ – 5
3. डा. गोविन्द चातक, प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संचेतना, पृष्ठ – 189

4. जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृष्ठ – 2
5. जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृष्ठ – 86
6. जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृष्ठ – 112
7. जयशंकर प्रसाद, अजातशत्रु पृष्ठ – 963
8. जयशंकर प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृष्ठ – 179
9. जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृष्ठ – 16
10. डा. गोविन्द चातक, प्रसाद के नाटक स्वरूप और संचेतना, पृष्ठ – 190
11. डा. लाजपत राय गुप्त, बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाज शास्त्रीय अध्ययन पृष्ठ – 80–81
12. जयशंकर प्रसाद, कामना, पृष्ठ – 51
13. जयशंकर प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृष्ठ – 50
14. जयशंकर प्रसाद, जन्मेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ – 37
15. डा. दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक उद्‌भव और विकास, पृष्ठ – 129
16. जयशंकर प्रसाद, अजातशत्रु पृष्ठ – 104
17. जयशंकर प्रसाद, जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ – 13
18. डा. लाजपत राय गुप्त, बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाज शास्त्रीय अध ययन पृष्ठ – 91
19. जयशंकर प्रसाद, जन्मेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ – 74
20. स्जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृष्ठ – 106
21. जयशंकर प्रसाद, विशाख,पृष्ठ – 13
22. जयशंकर प्रसाद, कामना, पृष्ठ – 54
23. जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृष्ठ – 117
24. जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृष्ठ – 118
25. गोविन्द चातक, प्रसाद के नाटक स्वरूप और संचेतना, पृष्ठ – 208
26. डा0 रामविलास शर्मा,निराला की साहित्य साधना, पृष्ठ– 155भाग 2
27. जयशंकर प्रसाद, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ – 156